

एक भरोसेमंद स्कूली व्यवस्था के बारे में विचार

रोहित धनकर

आजादी के पश्चात् भारतीय शिक्षा व्यवस्था ने जो स्वरूप ग्रहण किया उसमें एक ओर जनतांत्रिक दबावों के चलते प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के प्रयास हुए तो वहीं दूसरी ओर मध्यमवर्गीय दबाव के चलते प्राथमिक शिक्षा के स्थान पर उच्च शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय में वृद्धि की गई। इसका एक नतीजा प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के साथ गुणवत्ता के लिए किए जाने वाले प्रयासों की उपेक्षा के रूप में सामने आया। लेकिन नवें दशक के पश्चात् यह स्थिति और अन्तर्विरोधपूर्ण रूप में सामने आई। एक तरफ सरकार सभी को गुणवत्तापूर्ण आरंभिक शिक्षा उपलब्ध कराने का नारा लगाते दिखाई देती है तो दूसरी तरफ शिक्षा के निजीकरण के लिए भी रास्ता तैयार करते दिखाई देती है। इस अन्तर्विरोध के परिणामस्वरूप सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था से आमजन का भरोसा भी हिलने लगा। यह लेख लोकतांत्रिक समाज के लिए 'भरोसेमंद स्कूली व्यवस्था' की पैरवी करता है।

स्कूली व्यवस्था के भरोसेमंद होने का मुद्दा जितना अत्यावश्यक और महत्वपूर्ण आज माना जा रहा है उतना स्वतन्त्रता के बाद कभी नहीं माना गया। संभवतः आज इस बात पर आम सहमति है कि भारत में सार्वजनिक (सरकारी) स्कूली व्यवस्था के भरोसेमंद होने का पिछले कुछ वर्षों में सर्वाधिक हास हुआ, लेकिन ऐसा क्यों हुआ और कौन से कारक एक समर्थ स्कूली व्यवस्था का निर्माण करते हैं, जैसे मुद्दों पर होने वाली बहस में शामिल लोगों के बीच कोई आम सहमति नहीं है।

कई लोग मानते हैं कि स्वतंत्रता के बाद अभाव की अर्थव्यवस्था द्वारा जनित प्रतिस्पर्धा को धीरे-धीरे बल मिला और मध्यम वर्गीय समाज ने अपने बच्चों को शिक्षित बनाने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पारितोषिक अच्छी नौकरी का मिल जाना माना। निजी स्कूलों ने यह स्थापित करते हुए कि उनके यहां पढ़े हुए बच्चे अच्छी नौकरियां पाते हैं, धीरे-धीरे अपने लिए एक बाजार विकसित किया। इसने उच्च व मध्यम वर्गीय समाज को निजी स्कूलों की ओर लुभाया और परिणामस्वरूप शिक्षा के नीति-निर्माताओं (शिक्षा के ही नहीं बल्कि सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्रों के नीति-निर्माताओं) के बच्चों ने निजी स्कूलों के लिए सरकारी स्कूलों को छोड़ दिया। धीरे-धीरे सरकारी स्कूल केवल गरीबों के बच्चों के स्कूल बनकर रह गए। इनमें मुहैया शिक्षा की गुणवत्ता तो किसी की चिन्ता का विषय था ही नहीं। सरकार ने केन्द्रीय विद्यालयों व नवोदय विद्यालयों के माध्यम से एक स्तरित शिक्षा व्यवस्था क्रमशः अफसर-वर्ग व संपन्न ग्रामीण लोगों हेतु खड़ी की और सामान्य सरकारी स्कूलों का उनकी अपनी गति से हास होने के लिए छोड़ दिया।

दूसरी ओर इस हास का अधिक रेडिकल विश्लेषण उपरोक्त व्याख्या से संतुष्ट नहीं दिखता, क्योंकि इस व्याख्या में हास को 'स्वभाविक विकासक्रम' के रूप में देखने की

लेखक परिचय :

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005 की संचालन समिति सदस्य, स्वयंसेवी संगठन दिगन्तर के संस्थापक एवं सचिव।

पुस्तक :

शिक्षा और समझ, शिक्षा के संदर्भ और विकल्प (संपादित), आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा।

सम्पर्क :

दिगन्तर, टोडी रमजानीपुरा, खोनागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302025

email : rdhankar@gmail.com

प्रवृत्ति मौजूद है। इस तरह सोचने वाले लोग यह दावा करते हैं कि 60 के दशक तक सार्वजनिक स्कूली व्यवस्था पर्याप्त भरोसेमंद व समर्थ थी और इसे सत्ता की यथा-स्थिति (जो समाज के उच्च वर्ग व जातियों के पक्ष में थी) के लिए एक संकट की तरह देखा गया। इस संकट को भांपकर जान-बूझकर धीरे-धीरे, सरकारी स्कूली व्यवस्था को कमजोर किया गया। जैसे ही शहरों में मध्यम वर्गीय बच्चों और गांवों में उच्च जाति के अधिकांश बच्चों के निजी स्कूलों में जाने से शैक्षिक बाजार विकसित हुआ, वैसे ही सरकार द्वारा सर्वशिक्षा की जिम्मेदारी से छुटकारा पाने की संभावना भी उभरी। तब से, यह सिद्ध करने के लिए कि सरकार द्वारा मुहैया करवाई जा रही शिक्षा गुणवत्तापूर्ण नहीं हो सकती और इसलिए बाजारी ताकतों को इस क्षेत्र में आने के लिए खुला छोड़ दिया जाए, इस स्कूली व्यवस्था को जानबूझकर निशाना बनाया गया।

कोई किसी भी तरह इस प्रक्रिया को समझता हो परिणाम यही निकलता है कि अब सार्वजनिक स्कूली व्यवस्था भरोसेमंद व समर्थ नहीं रह गई है। जो अभिभावक निजी स्कूलों की फीस भरने में सक्षम हैं, वे शायद ही अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजते हैं। सरकारी स्कूली व्यवस्था में गुणवत्ता सुधार हेतु चलाई गई बड़ी-बड़ी मुहिम, जिनका खूब ढिंढोरा पीटा गया, बुरी तरह असफल हुईं। हां, अभी भी अधिकांश बच्चे सरकारी स्कूलों में ही दाखिला लेते हैं और ऐसा माना जाता है कि नामांकन दर और यहां तक कि ठहराव दर में भी सुधार हुआ है। लेकिन यह उपलब्धि औंधे मुंह गिरती नजर जाती है जब हम सरकारी आंकड़ों की अविश्वसनीयता और इन स्कूलों में अध्ययनरत बच्चों की सामाजिक-आर्थिक दशा पर दृष्टि डालते हैं। आज सरकारी स्कूलों में ज्यादातर केवल अन्य पिछड़ा जाति वर्ग की बालिकाएं (यहां तक कि अब तो वे भी निजी स्कूलों में जा रही हैं), अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति बच्चे ही जाते हैं।

इन हालातों को और ज्यादा उपेक्षित नहीं किया जा सकता। राज्य, केन्द्र से लेकर सभी प्रान्तीय सरकारों तक - साफ तौर पर इस जुगत में लगी हैं कि कैसे सभी बच्चों को अच्छी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने की जिम्मेदारी से पीछा छुड़ाया जाए। बजटीय प्रावधान के संबंध में यह इतना साफ तौर पर उजागर नहीं होता, लेकिन व्यवस्था के प्रबंधन हेतु कोरपोरेट गठबंधन के प्रति अतिरिक्त उत्साह से यह साफ तौर पर जाहिर होता है।

यह दिखाने के लिए कि राज्य गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के सार्वभौमीकरण की पुरजोर कोशिश में लगा है वे बड़े-बड़े वादे करते हैं और नई-नई योजनाओं की घोषणा करते हैं। किन्तु हाल की उन योजनाओं की

प्रकृति, जिनकी घोषणा सार्वजनिक निजी भागीदारी (पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप) के बैनर तले हुई, साफ-साफ दर्शाती है कि इन योजनाओं का असली उद्देश्य एक शैक्षिक बाजार को विकसित करना है ताकि निजी संचालक खूब पैसा कमा सकें, और आमतौर पर सार्वजनिक संसाधनों जैसे भूमि और अन्य सुविधाएं मुहैया कराकर इनकी मदद की जा रही है। राजस्थान मानव विकास रपट 2002 घोषणा करती है कि 'जनतंत्र हेतु शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों में उन महत्वपूर्ण क्षमताओं, रुचियों और अपनी आवाज को बुलन्द कर सकने का साहस विकसित करना है ताकि उन्हें नजरअंदाज न किया जा सके। निश्चय ही व्यावसायिक कौशल पैकेज का आवश्यक हिस्सा होंगे किन्तु अकेले इन्हें केंद्रीय महत्त्व नहीं दिया जा सकता। एक जनतान्त्रिक राज्य का यह मूल कर्तव्य है कि वह ऊपर बताए गए उद्देश्यों को दृष्टिगत रखते हुए अपने सभी नागरिकों को शिक्षित बनाए।' नागरिकों के प्रति अपने इस मूल कर्तव्य को निभाने में राज्य साफ तौर पर विफल हुआ है और अब इससे पीछा छुड़ाने की कोशिश भी कर रहा है।

इस पृष्ठभूमि में दो सवाल उठते हैं जिन पर एक साथ चर्चा करने की आवश्यकता है। एक, भरोसेमंद स्कूली व्यवस्था का स्वरूप क्या है ? यह कैसी होनी चाहिए ? इसकी विशेषताएं क्या होनी चाहिए ? और दूसरा, कैसे सार्वजनिक स्कूली व्यवस्था में भरोसे को पुनः प्राप्त करने और इसे कायम रखने हेतु राज्य को मजबूर किया जाए? (हां, 'मजबूर' शब्द जानबूझकर चुना गया है) यदि हम सरकारी स्कूली व्यवस्था की सामर्थ्य सुधारना चाहते हैं तो इन दोनों मुद्दों पर सार्वजनिक रूप से चिन्तन-मनन करना होगा।

सबसे पहले 'भरोसेमंद' के विचार को ही कुछ समझते हैं। सतही तौर पर देखें तो 'भरोसेमंद' पूरी तरह से दृष्टिकोण का मामला लगता है। यदि लोग किसी व्यवस्था को भरोसेमंद और अपेक्षित परिणाम मुहैया करवाने में सक्षम पाते हैं तो वह व्यवस्था भरोसेमंद मानी जाती है। जितना ज्यादा लोग इन क्षमताओं पर विश्वास करते हैं, व्यवस्था उतनी ही अधिक भरोसेमंद मानी जाती है। इस तरह के आकलन से देखें तो अग्रणी निजी स्कूल, जहां लोग अपने बच्चों को दाखिला दिलाने के लिए मोटी-मोटी फीस भरते हैं, काफी भरोसेमंद नजर आते हैं। लेकिन हमें भरोसेमंद की इस घटिया समझ पर सवाल उठाने चाहिए। अगर 'सकारात्मक' दृष्टिकोण और क्षणिक सफलता ही किसी चीज के भरोसेमंद होने की पहचान है तो टी. वी. पर विज्ञापनों के माध्यम से बिकने वाले गोरे रंग के क्रीम भी भरोसेमंद माने जाएंगे। इसलिए, किसी स्कूली व्यवस्था के भरोसेमंद होने के संदर्भ में कुछ सवालों के जवाब ढूँढना आवश्यक हो जाता है।

छात्रों की क्षमताओं, अभिवृत्तियों और मूल्यों के संदर्भ में वह क्या मुहैया करवा रहा है? क्या इस गड्ड-मड्ड और कलह से ग्रसित जनतंत्र और अत्यधिक गतिशील अर्थव्यवस्था में अपना स्थान पाने हेतु प्रासंगिक और उचित स्तर की आवश्यक क्षमताएं यह छात्रों को मुहैया करवा पा रही हैं? क्या इस स्कूली व्यवस्था से निकले स्नातक इतने सक्षम हैं कि समाज के उत्तरोत्तर विकास हेतु इसे एक दिशा दे सकें? क्या वे इस प्रतिस्पर्धा की अंधी होड़ व बढ़ती आर्थिक विषमता के दौर में एक ईमानदार व शालीन जीवन जीने की राह पर चलने में सक्षम हैं? क्या वे सामाजिक न्याय के लिए अपनी आवाज उठाने में सक्षम हैं? क्या वे जन-भावनाएं भड़काने वाले नेताओं की दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई दुष्ट चालों को समझने में सक्षम हैं?

दूसरे प्रकार के प्रश्न स्कूली व्यवस्था के नौकरी हेतु तैयार करने वाले उस संकुचित नजरिए की वास्तविक उपलब्धियों पर किए जाने चाहिए जिनका यह व्यवस्था खूब ढिढ़ोरा पीटती है। किस हद तक निजी स्कूल उन क्षमताओं का श्रेय ले सकते हैं? यदि घरेलू माहौल, पक्षपाती चयन प्रक्रिया और ट्यूशन (जो निजी स्कूलों में सर्वाधिक है) को छोड़ दें तो अपने विद्यार्थियों के विकास में निजी स्कूलों का क्या योगदान है? कुल मिलाकर, हमें एक स्कूली व्यवस्था के भरोसेमंद होने को समझने हेतु निम्न मुद्दों पर सोचना चाहिए :

1. क्या यह प्रत्येक बच्चे के लिए है? यह समाज के किसी खास वर्ग के पक्ष में तो नहीं है? क्या इसका बच्चों के साथ व्यवहार निष्पक्ष है? या क्या यह परम्परागत मूल्यों (उदाहरण के तौर पर लड़कियों के प्रति भेदभाव लड़कियों के विरुद्ध), जन्मजात क्षमताओं व घर के माहौल की अनुपयुक्तता (उदाहरण : गरीब, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति बच्चों के विरुद्ध) के नाम पर भेदभाव करता है?
2. क्या इसकी पहुंच प्रत्येक बच्चे तक है? यह प्रत्येक बच्चे को स्कूल लाने की जिम्मेदारी लेता है या गरीब अभिभावकों की उदासीनता को इसके लिए जिम्मेदार ठहराता है?
3. क्या यह बच्चों की पारिवारिक पृष्ठभूमि को बिना ध्यान में रखे प्रत्येक बच्चे की शिक्षा में सफलता की जिम्मेदारी लेता है?
4. क्या यह एक ऐसे लोकतांत्रिक देश में रहने वाले सक्रिय नागरिक के लिए उपयुक्त है जिसमें लोकतंत्र एक अरब लोगों के लिए शांति और सम्मान के साथ रहना सीखने की एक प्रक्रिया है?
5. क्या यह बच्चों को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने और साथ ही साथ तेजी से वैश्वीकृत होती अर्थव्यवस्था के गरीब-विरोधी पूर्वाग्रहों को समझने में उनकी मदद करने में पर्याप्त सक्षम है?

6. क्या यह अपने उद्देश्यों को पर्याप्त स्तर तक प्राप्त करने में सक्षम है?
7. क्या यह आम नागरिक में विश्वास जगा पाती है? क्या यह स्थानीय उपेक्षित समुदायों के साथ संवाद स्थापित करने हेतु संवेदनशील है?
8. क्या इसके अधिकारी एवं कार्मिक जिम्मेदार, जवाबदेह व परिश्रमी हैं जो अपने काम के प्रति न्याय करना चाहते हों?
9. इस प्रकार की व्यवस्था को चलाने व इसकी प्रगति को कायम रखने हेतु आवश्यक अकादमिक प्रवीणता के विकास के संदर्भ में क्या यह टिकाऊ है?

कुछ संबंधित प्रश्न और हो सकते हैं। हमें उन सूचकों के बारे में सोचना होगा जो हमें बता सकें कि उपरोक्त मानदण्डों को पाने में व्यवस्था कितनी सफल रही और यह कि कैसे सुनिश्चित करें कि उपरोक्त मानदण्डों से संबंधित आंकड़े विश्वसनीय हों।

दूसरा प्रश्न (यह हम कैसे सुनिश्चित कर सकते हैं कि सरकार एक भरोसेमंद स्कूली व्यवस्था के लिए ईमानदारी से काम करती है?) और मुश्किल है। मुझे दुःख है कि न तो प्रशासनिक और न ही राजनैतिक कटिबद्धता अब तक नजर आई जो ऐसी भरोसेमंद व्यवस्था का निर्माण करना चाहती हो या इसे कायम रखना चाहती हो। सभी सरकारी संस्थानों और योजनाओं में उदासीनता और लापरवाही पैर पसारे पड़ी है। हम ऐसा क्या कर सकते हैं कि इन संस्थानों और योजनाओं में प्रतिबद्धता और चिन्तनशीलता आ सके? इस सवाल का जवाब देना मुश्किल है। एक जवाब तो यहां दिया गया है कि यदि इस देश के नागरिक घमण्डी नौकरशाहों और स्वार्थी राजनेताओं को एक भरोसेमंद स्कूली व्यवस्था मुहैया करवाने हेतु मजबूर नहीं करते तो एक धर्मनिरपेक्ष जनतंत्र के रूप में भारत का भविष्य अंधकारमय है। ♦

भाषान्तर : कुलदीप गर्ग